

---

# इकाई 15 गैर-फार्म सेवाएँ

---

## इकाई की रूपरेखा

- 15.0 उद्देश्य
- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 कृषि के विकास में ऋण की भूमिका
  - 15.2.1 ऋण का महत्त्व
  - 15.2.2 पारम्परिक कृषि में ऋण की भूमिका
  - 15.2.3 आधुनिक कृषि में ऋण की भूमिका
- 15.3 कृषि विकास में विपणन की भूमिका
  - 15.3.1 विपणन कुशलता
  - 15.3.2 भण्डारण तथा संग्रह
- 15.4 कृषि मूल्य नीति
  - 15.4.1 कृषि मूल्यों के कार्य
  - 15.4.2 भारत में कृषि मूल्य नीति का विकास
  - 15.4.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली
  - 15.4.4 सार्वजनिक वितरण में प्रवृत्तियाँ
- 15.5 सारांश
- 15.6 शब्दावली
- 15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

---

## 15.0 उद्देश्य

---

इस इकाई गैर-फार्म सेवाओं, जैसे कृषि ऋण, विपणन एवं भण्डारण तथा कृषि मूल्य नीति और साथ-साथ सार्वजनिक वितरण प्रणाली की खाद्यान्न उत्पादन और वितरण में भूमिका बताई गई है। इसमें विद्यार्थी निम्नलिखित बातें समझ सकेंगे:

- कृषि उत्पादन बढ़ाने में सांस्थानिक ऋण भूमिका;
- कृषि उत्पादों के उत्पादन और वितरण में बाज़ार की भूमिका;
- खाद्यान्न उत्पादन वृद्धि में मूल्य नीति की भूमिका; तथा
- गरीबों को अनाज उपलब्ध कराने में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका।

---

## 15.1 प्रस्तावना

---

कृषि के विकास के लिए न केवल निवेश में वृद्धि पर्याप्त बाज़ार का उपलब्ध होना आवश्यक है बल्कि सांस्थानिक परिवर्तन की जटिल पद्धति, आर्थिक और सामाजिक शक्ति का नए प्रकार से वितरण तथा सरकार की नीति, जिससे आर्थिक विकास के लाभ का सही प्रकार से लोगों में वितरण हो, इनका होना भी आवश्यक है। भूमि सुधार का सटीक अर्थ है वह नीतियाँ जिससे भूमि का वितरण छोटे व लघु किसानों के पक्ष में हो। भूमि सुधार एक आधुनिक प्रक्रिया नहीं है। एक तरह से, पारम्परिक अर्थ से समानता तथा सामाजिक न्याय की प्रतिक्रिया में भूमि सुधार होता आया है।

## 15.2 कृषि विकास में ऋण की भूमिका

### 15.2.1 ऋण का महत्त्व

यह सर्वमान्य बात है कि किसी भी उद्योग की तरह कृषि को बने रहने के लिए ऋण की आवश्यकता होती है। इसकी राशि और अवधि इस बात पर निर्भर होती है कि उत्पादन कार्य नहीं चला सकता। किसान की गरीबी और ऋणग्रस्तता इस बात के प्रमाण हैं। यह वित्तीय साधनों और फार्म प्रबंध कौशल एक साथ जाकर ऋण देने वाले और लेने वाले दोनों को लाभ पहुँचता है। लेकिन दुर्भाग्यवश इसका प्रयोग कई बार ऐसे होता है जिससे एक या दोनों को हानि हो सकती है।

कृषि उत्पादन बढ़ाने में ऋण की भूमिका एक विवाद का विषय नहीं है। कृषि उत्पादन और विपणन की आवश्यकताओं के कारण कृषि के विकास में ऋण की भूमिका अब तक सीमित रही है।

### 15.2.2 पारम्परिक कृषि में ऋण की भूमिका

आज़ादी के समय भारतीय कृषि की जो स्थिति थी उसे पारम्परिक कृषि कहा जा सकता है। निर्वाह खेती (Subsistence farming) इस कृषि की विशेषता है और इसके उत्पादन को अधिकतर भाग किसान परिवार अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही रख लेता है। सारे किसानों की शक्ति केवल अनाज का उत्पादन करने में ही लग जाती है। बाज़ार के लिए बहुत कम अनाज बचता है। किसान को बाज़ार की आदत नहीं होती इसलिए यह नगद फसलें (Cash Crops) उगाने में कतराता है।

जो कृषि के अल्पविकास में सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों का हाथ मानते हैं, उनका विचार है कि कृषि ऋण का विस्तार हमेशा उसके अनुरूप कृषि उत्पादन में परिवर्तन नहीं ला पाता। कृषि विकास के प्रारंभिक चरणों में ऋण प्रायः हेतू ही लिया जाता है। इसके लिए कई कारक ज़िम्मेदार हैं : निर्वाह खेती, भोजन का सुरक्षित भण्डार न होना, अपव्यय, फसल खराब हो जाना व अन्य विपदाएँ, जनसंख्या में तेज़ी से वृद्धि, ग्रामीण जीवन के पारम्परिक रीति रिवाज़, जिनमें धार्मिक एवं सामाजिक समारोहों पर भारी व्यय होना आदि।

पारम्परिक खेती में पारिवारिक और खेती के खर्चों को अलग-अलग करना मुश्किल होता है। इसी तरह उपभोग के लिए ऋण और उत्पादन के लिए ऋण में अंतर करना मुश्किल होता है। अतः विकास में प्रारम्भिक चरणों में कृषि उत्पादन बढ़ाने में पूँजी लगाने की संभावनाएँ कम रहती हैं।

लेकिन यह कहना गलत होगा कि भारत की पारम्परिक खेती में ऋण की कोई आवश्यकता ही नहीं होती थी। किसान अपने साधनों से पूँजी जुटाने की कोशिश करते हैं। गरीबी और सांस्कृतिक कारणों से उसकी अपनी बचत बहुत कम होती है। उन्हें बाहरी साधनों पर निर्भर रहना ही पड़ता है। सांस्थानिक साधनों के होने से ये महाजनों के चंगुल में फँस जाते हैं। महाजन उन्हें बहुत ऊँचे ब्याज पर उधार देते हैं। उन्हें यह भी पता होता है कि ये किसान कभी भी उधार नहीं चुका पाएँगे। कभी अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति के अनुसार यदि कभी-कभी ऋण घातक भी होता है लेकिन इसके बिना किसानों का गुजारा भी नहीं होता। सभी प्रकार के वित्त में कृषि ऋण का स्वरूप सबसे कम सांस्थानिक होता है लेकिन इसका फ़ैलाव सबसे अधिक होता है।

भारतीय किसानों द्वारा उधार लेना कोई गलत बात नहीं है लेकिन इसके लिए ज़मींदार-महाजन-व्यापारी के दिये ऋण पर ब्याज का दर अत्यधिक होने से और किसानों द्वारा उपभोग पर इसे खर्च करने से गरीबी बढ़ती है और साथ-साथ भारतीय कृषि की दशा भी खराब होती है। महाजनों से उधार लेने के सामान्य दुष्परिणाम ये हैं :

- 1) पैसा देते समय महाजन पूरे वर्ष का ब्याज पहले ही काट लेता है और उधार लेने वाले से यह हस्ताक्षर करा लेता है कि पूरा मूल ले लिया है।
- 2) कुछ महाजन उधार देने से पहले कोरे कागज़ पर दस्तखत या अँगूठा लगवा लेते हैं और बाद में उस कागज़ पर अधिक रकम भर लेते हैं।
- 3) अपने खातों में हेराफेरी करना महाजनों के लिए आम बात है। वे कई बार जानबूझ कर ब्याज या मूल प्राप्त करने की रसीद भी नहीं देते या फिर अपने खानों में इसको नहीं चढ़ाते। अतः इनके चंगुल में एक बार फँसने के बाद बच निकलना कठिन हो जाता है।

- 4) महाजन ब्याज की ऊँची दर तो वसूल करते हैं साथ-साथ हेरा-फेरी भी करते हैं।
- 5) उधार लेने वालों को उधार मिलने से पहले महाजनों को बहुत से भुगतान करने पड़ते हैं जैसे गिरह खुलाई, कटौती, बटावन आदि।
- 6) महाजन बिक्री दस्तावेज़ भी ले लेते हैं। यदि ऋण लेने वाला उधार व चुका पाए तो वे इनका प्रयोग करते हैं।

उपरोक्त बातों ने सरकार को इनके बारे में कानून लाने, महाजनों को इस व्यवसाय और किसान को इनके चंगुल से छुड़ाने के लिए मजबूर किया। इस बात को महसूस किया गया कि इन गैर-सांस्थानिक साधनों के स्थान पर सांस्थानिक साधन अत्यंत आवश्यक है।

### 15.2.3 आधुनिक कृषि में ऋण की भूमिका

आधुनिक कृषि में किसान एक साहसी की भूमिका निभाता है और दृष्टिकोण एक उद्योगपति से कोई विशेष भिन्न नहीं होता। कृषि पूरी तरह व्यापारिक बन जाती है। किसान लाभ उद्देश्य से प्रेरित रहता है और बाज़ार के लिए उत्पादन करता है।

कृषि में प्रयोग में आने वाली नई प्रौद्योगिकी के दो पहलू हैं, एक शक्ति के जैविक साधनों पर और दूसरा मशीनी साधनों पर निर्भर है। जीव रसायन प्रौद्योगिकी भूमि में वृद्धि लाने वाली और श्रम को लगाने वाली होती है। इसमें पारम्परिक औज़ार, मानव और पशु श्रम का प्रयोग होता है, लेकिन साथ-साथ सिंचाई, उर्वरक और बीजों की अधिक उपज की किस्मों का भी काफी प्रयोग होता है। यांत्रिकी प्रौद्योगिकी में मानव और पशु श्रम के स्थान पर मशीनों का, जैसे ट्रैक्टर, थ्रेशर, हार्वेस्ट कम्बाइन आदि का प्रयोग होता है। यह प्रौद्योगिकी श्रम को हटाने वाली प्रौद्योगिकी होती है।

ऋण को आधुनिक बनाने व इसकी उत्पादित बढ़ाने में सक्रिय भूमिका होगी। कृषि ऋण सक्रिय भूमिका निभाता है, जबकि इसका एक बड़ा भाग नई प्रौद्योगिकी निभाता है, यहाँ हमें इस तथ्य को याद रखना चाहिए कृषि कारकों में से केवल एक कारक है लेकिन फिर भी सांस्थानिक ऋण नई प्रौद्योगिकी के संदर्भ में सकारात्मक भूमिका निभाता है क्योंकि इसमें किसानों पर ब्याज का बोझ कम पड़ता है। यह भूमि उत्पादित बढ़ाने का भी साधन बन सकता है। इसके अतिरिक्त सांस्थानिक ऋण महाजन-व्यापारियों की तरह किसानों का शोषण नहीं करता।

सांस्थानिक एजेंसियाँ वे संस्थाएँ कहलाती हैं जिनकी ऋण देने की शर्तें सरकारी नियंत्रण के अधीन निर्धारित होती है। ये संस्थाएँ सरकार के सीधे नियंत्रण में होती हैं और राष्ट्रीय योजना और विकास की प्रक्रिया के अनुसार अपनी नीति की रूपरेखा बनाती है।

प्रौद्योगिकी परिवर्तनों के साथ कृषि उत्पादन में पूँजी का महत्त्व बढ़ा है, विशेषतया जहाँ अधिक उपज वाली किस्मों का प्रयोग हो रहा है और जहाँ गहन विकास कार्यक्रम चल रहे हैं। परिणामस्वरूप, उर्वरक जीवनाशक दवाइयाँ, सिंचाई संबंधी बुनियादी सुविधाएँ कृषि मशीनें व उपकरण आदि की माँग निरंतर बढ़ रही है। किसान इन आगतों पर पहले से अधिक व्यय कर रहे हैं। कृषि में पूँजी की सीमांत मूल्य उत्पादित बढ़ने से किसान अब ऋणों, यानि बाहरी साधनों पर, अधिक निर्भर रहने लगे हैं। इसने कृषि ऋण की समस्या को नया आयाम दिया है।

गैर-सांस्थानिक एजेंसियों की अपेक्षा सांस्थानिक एजेंसियाँ इन सामाजिक आवश्यकताओं को समझने और इनके अनुसार काम करने के बेहतर स्थिति में है। तालिका-1 से पता चलता है कि संस्थागत ऋण में सहकारी ऋण समितियों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण समीक्षा कमेटी ने इस बात की समीक्षा की थी कि ये समितियाँ किस सीमा तक ऋण की माँग को पूरा कर सकती हैं। लेकिन यह जानकर कि ऋण की बढ़ती हुई माँग को ये समितियाँ पूरा नहीं कर पा रही हैं, कमेटी ने यह उचित समझा कि भारतीय स्टेट बैंक सहित वाणिज्य बैंकों को कृषि ऋण के दायरे में लाना आवश्यक है। इससे कृषि ऋण में एक से अधिक सांस्थानिक एजेंसियाँ आ गई।

जुलाई 1969 में 14 प्रमुख वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण हुआ। 1980 में और 6 बैंकों का राष्ट्रीयकरण हुआ। इससे ये बैंक ऋण के प्रति अधिक जिम्मेदार हो गए। इन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में बड़ी संख्या में शाखाएँ खोलीं और

ऋण दिये। लेकिन ये भी कृषि की आवश्यकताओं को संतोषजनक ढंग से पूरा न कर सके। परिणाम स्वरूप कमी पूरी करने के लिए एक और नई एजेंसी क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक स्थापित किए गए।

## 15.3 कृषि विकास में विपणन की भूमिका

पारम्परिक कृषिक समाज में गाँव के स्तर पर व व्यक्तिगत परिवार के स्तर पर आत्म निर्भरता होती है। ऐसे समाज में विपणन सेवाओं की, जैसे परिवहन, भोजन का संसाधन व भण्डारण की, माँग काफी सीमित रहती है लेकिन आर्थिक संवृद्धि और माँग के साथ-साथ यह निरंतर बढ़ती जाती है।

उत्पादन और विपणन एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। इससे पहले की उत्पादकों को व्यापारिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए उनको यह विश्वास होना ज़रूरी है कि उनके उत्पाद, विशेषता नए उत्पाद बाज़ार में बिक सकते हैं। एक आकर्षक बाज़ार वह होता है जिससे अच्छी कीमत मिले और माल आसानी से बिक सके। कृषि विकास योजनाओं में अब तक इसकी अनदेखी होती रही है।

कृषि उत्पादन में निरंतर वृद्धि के लिए सही ढंग से कृषि विपणन का विकास आवश्यक होता है। एक कुशल विपणन प्रणाली वह होती है जिसमें किसान को अपने उत्पाद से अधिकतम प्रतिफल मिले, खर्चे कम से कम हों और उपभोक्ता कीमत पर उत्पाद पा सकें। प्रणाली ऐसी हो जो बढ़ते हुए बिक्री योग्य अतिरेक (marketable surplus) को बेच सकें, कीमत निर्धारण की व्यवस्थित प्रणाली विकसित कर सकें, और प्रतियोगिता ला सकें। आमतौर पर यह समझा जाता है कि भारत में कृषि उत्पादों का निजी व्यापार शोषणकारी है, आर्थिक तौर पर अकुशल है व लाभ का मार्जिन बहुत रखता है। लेकिन हाल के सर्वेक्षण से पता चला है कि भारत में अनाज का निजी व्यापार काफी कुशल और तर्क पूर्ण बाज़ार की तरह काम करता है।

हरित क्रांति से उत्पादन की तेज़ी से वृद्धि हुई लेकिन वितरण प्रणाली इसके अनुरूप विकसित न हो पाई। बाज़ार के स्वरूप के विकास पर निवेश उत्पादन प्रौद्योगिकी निवेश की तुलना में पीछे रहा और उत्पादन पर भी प्रभाव डाला। इस प्रकार बाज़ार स्वरूप को विकसित करने में साधन नहीं लगे। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन के रूप में वह निवेश आवश्यक है। रतन और हयामी के अनुसार सफल कृषि विकास के लिए बाज़ार स्वरूप में सुधार लाना एक आवश्यक शर्त है। यदि वितरण प्रणाली अकुशल रही तो कृषि उत्पादों में वृद्धि वास्तविक आय में वृद्धि में उतनी नहीं बदल पाएगी। अतः कुशल विपणन प्रणाली एक आर्थिक आवश्यकता है।

कृषि योजना बनाने वालों को यह समझना चाहिए कि जब तक एक कुशल विपणन प्रणाली नहीं होगी, आर्थिक प्रोत्साहन उत्पादकों तक नहीं पहुँच पाएँगे। एक व्यवस्थित विपणन प्रणाली का उद्देश्य उत्पादक को उचित कीमत दिलवाना है। दूसरे, इसमें पारम्परिक हेरा-फेरी नहीं होनी चाहिए और विपणन सेवाओं पर कम से कम खर्चा आए। जब तक विपणन में ये मापदण्ड नहीं अपनाए जाएँगे और एक व्यवस्थित विपणन वातावरण नहीं बनेगा अधिकतर उत्पादकों को, जिनमें छोटे और सीमांत किसानों की संख्या अधिक है, उचित कीमत नहीं मिल पाएगी।

उत्पादन और विपणन एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। जब तक खेत में पड़े उत्पाद उपभोक्ता तक न पहुँचें उनका कोई मूल्य नहीं होता क्योंकि बहुत देशों में उत्पादक अपने उत्पादन का स्वयं उपभोग नहीं होता। इसे औद्योगिक उत्पादों की भाँति, उपभोक्ताओं की माँग पूरी करने के लिए बाज़ार में बेचना आवश्यक है। विपणन प्रक्रिया उत्पाद बेचने के निर्णय से प्रारम्भ होती है। इसके लिए समन्वित बाज़ार प्रणाली की आवश्यकता होती है कि कार्यात्मक और सांस्थानिक दोनों हों।

### 15.3.1 विपणन कुशलता

कृषि विपणन कृषि वस्तुओं की कीमतों को निर्धारण करने की एक प्रक्रिया है। ये कीमतें माँग पूर्ति की शक्तियों द्वारा या अन्य किसी प्रक्रिया से निर्धारित होती है। विपणन प्रक्रिया में संग्रहण, श्रेणीकरण, संचयन परिवहन तथा वितरण क्रियाएँ आती हैं। विकास के साथ-साथ विपणन केवल एक उत्पादक उपभोक्ता संबंध न रहकर और जटिल होती चली जा रही है। अब इन दोनों के बीच बहुत से बिचोलिए हैं। उत्पादक विपणन प्रणाली को उत्पाद देते हैं और वे ही इसके अकुशल होने से सबसे अधिक प्रभावित वह होती है जो न्यूनतम बाज़ार के खर्चे घटाने के बाद उत्पादक को अधिकतम प्रतिफल दे ताकि वह उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित हो। यहाँ तकनीकी कुशलता व आर्थिक कुशलता में भेद करना उपयोगी होगा। तकनीकी कुशलता का संबंध यंत्रिकरण और प्रक्रियाओं को बुद्धिसंगत बनाने से है। प्रौद्योगिकी कुशलता के लिए आवश्यक है कि

विपणन स्वरूप ऐसा हो जो हर विपणन कार्य के लिए सर्वोत्तम उपलब्ध विधि अपनाए जोकि अधिकतम प्रभावी हो। दूसरी और आर्थिक कुशलता प्रणाली यह सुनिश्चित करती है कि उत्पाद के व्यापार में सुधार से भौतिक बचते प्राप्त होती है वे उपभोक्ता और उत्पादक दोनों को मिले। ये बचते अपव्यय, ऊँची लागत और शोषणकारी लाभों से बचकर प्राप्त की जा सकती है। प्रतियोगिता के दबाव से इनसे बचा जा सकता है। एक बाज़ार पूर्ण प्रतियोगिता के जितना समीप होता है व उतना ही आर्थिक कुशल होता है और उसमें अपव्यय और शोषण न्यूनतम रहता है। अतः एक आर्थिक कुशल विपणन प्रणाली के लिए आवश्यक है कि यह किसान को अधिकतम प्रतिफल, न्यूनतम खर्चे और उचित कीमत सुनिश्चित कराएँ।

सामान्यतः आर्थिक कुशलता का अर्थ परिचालन और मूल्यन कुशलता से लिया जाता है। परिचालन कुशलता से अभिप्राय आगत-निर्गत अनुपात और भौतिक विपणन, जैसे भण्डारण, परिवहन आदि की लागतों को कम करने से है। मूल्यन कुशलता से अभिप्राय है कि विक्रेताओं को अपने उत्पाद की कीमत मिले और उपभोक्ताओं को अपने पैसे की कीमत मिले। मूल्यन कुशलता क्रय, विक्रय और मूल्य लगाने से संबंधित पहलुओं में सुधार लाती है ताकि ये उपभोक्ताओं के निर्देशों के अनुरूप हो। सारे बाज़ार में एक जैसी कीमत मूल्यन कुशलता की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। उत्पादकों और उपभोक्ताओं को बिचोलियों के शोषण बचाने हेतु नीति निर्धारक मूल्यन कुशलता पर अधिक जोर देते रहे हैं।

यह विचार कि 'भारत के कृषि बाज़ार अपूर्ण, शोषणकारी असहायक हैं', धीरे-धीरे बदल रहा है। लेकिन यह आम विश्वास कि 'इन बाज़ारों में छलकपट से कीमतों पर प्रभाव डालकर बहुत लाभ कमाते हैं', अभी नहीं बदला है। लेकिन अधिकतर बाज़ार अब किसानों को फायदा पहुँचा रहे हैं और आर्थिक विकास प्रक्रिया में योगदान दे रहे हैं। कृषि बाज़ार प्रतियोगी तो लगता है लेकिन अनिश्चितताओं से भरा है। ये अनिश्चितताएँ कृषि उत्पादों की माँग और पूर्ति में हैं। जब किसी मौसम में काफी आपूर्ति नहीं हो पाती तो बढ़ती हुई माँग को पूरा करना कठिन हो जाता है। परिणामस्वरूप कीमतों में अल्पकालीन उतार-चढ़ाव आते हैं जोकि शुद्ध प्रतिस्पर्धा में नहीं आते। यह आवश्यक है कि किसानों का उत्पादन उपभोक्ता तक पहुँचाने और बेहतर आगतों को किसानों को उपयुक्त मात्रा में और समय पर पहुँचाने के कुशल प्रबंध हों।

बाज़ार प्रणाली से किसान को लाभ पहुँचे इसके लिए आवश्यक है कि समाज इन बाज़ारों के नियम व मानदण्ड बनाए। यदि समाज ऐसा नहीं करता तो सरकार को इन बाज़ारों में सुधार लाने पड़ेंगे। सरकार द्वारा इस ओर ध्यान 1897 से दिया जा रहा है। लेकिन उत्पादकों और उपभोक्ताओं को लाभ पहुँचाने के लिए व्यवस्थित और कुशल बाज़ार प्रणाली स्थापित करने में बहुत समय लगेगा।

कृषि बाज़ार सुधारों में एक बड़ा परिवर्तन अधिकतर राज्यों में नियंत्रित (Regulated) बाज़ारों के रूप में आया है। इन बाज़ारों में खुली नीलामी और बाज़ार प्रभारों के बारे में स्पष्ट विनियम होते हैं। इन बाज़ारों में अहातों (Yards) के रूप में उपयुक्त बुनियादी सुविधा मिलती है। ये गैर-कानूनी प्रभार कम करने में सफल हुई हैं।

### 15.3.2 भण्डारण तथा संग्रह

व्यवस्थित कृषि विपणन के विकास हेतु यह आवश्यक है कि उपज को लम्बी अवधि तक जमा रखने के लिए गोदामों की व्यवस्था हो। इस संबंध में ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण कमेटी ने उपज जमा रखने की तीन स्तरीय ढाँचे की सिफारिश की है : (क) राष्ट्रीय, (ख) राज्य तथा जिला व (ग) ग्रामीण स्तर। इस उद्देश्य से अखिल भारतीय महत्त्व के सभी केन्द्रों पर भण्डारण सुविधाएँ उपलब्ध करवाने के लिए भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India या FCI) तथा केन्द्रीय भण्डारण निगम (Central Warehousing Corporation या CWC) की स्थापना की गई। राज्य स्तर और जिला स्तर महत्त्व के केन्द्रों पर सुविधाएँ उपलब्ध करवाने की जिम्मेदारी राज्य सरकारों और राज्य भण्डारण निगमों की थी। गाँवों की तथा ग्रामीण आवश्यकताओं को पूरा करने की जिम्मेदारी सहकारी संस्थाओं की थी।

यह सभी जानते हैं कि उपज तो किसी एक विशेष मौसम में होती है जबकि इसकी आवश्यकता सारा वर्ष होती है। अतः उपज को जमा करके रखना कृषि अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। केन्द्रीय और राज्य सरकारों के गोदामों व निजी और सार्वजनिक इकाइयों से किराए पर ली गई जगहों पर काफी कृषि उपज जमा है। खाद्यान्न जमा कर रखने वाली प्रमुख सरकारी संस्था भारतीय खाद्य निगम या FCI है। किराए पर जगह देने वाली प्रमुख सरकारी संस्थाएँ केन्द्रीय भण्डारण निगम (CWC) व राज्य भण्डारण निगम हैं। तालिका-2 में भारत के मुख्य राज्यों में गोदामों की संख्या और उनकी भण्डारण क्षमता के बारे में आँकड़े कि इनमें कितनी उपज और कितने समय तक जमा रहती है। अधिकतर उत्पादों के बारे में यह सूचना नहीं मिलती। गेहूँ बाज़ार

में आमद के व्यवहार से ही यह पता चलता है कि पंजाब और हरियाणा के मझले और बड़े किसानों ने कितना गेहूँ जमा कर रखा था। चावल मिलों में भी गोदाम की व्यवस्था होती है लेकिन उसमें कितना धान जमा रहता है इसके बारे में आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

भण्डारण के मामले में निजी व्यापारी भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। लेकिन इसके बारे में भी आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। कुछ शोधकर्ताओं ने यह अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है कि विभिन्न खाद्यान्न कितने समय तक गोदामों में रखी जाती है और भण्डारण के दौरान कितनी हानि होती है।

जैसे-जैसे कृषि में बाज़ार अतिरेक बढ़ रहा है, भण्डारण सुविधा कम पड़ती रही है। पिछले कुछ वर्षों में फसल कटने के बाद की यह गंभीर समस्या है। ऐसा अनुमान है कि भण्डारण सुविधाओं की कमी के कारण उपज का लगभग 1.5 प्रतिशत भाग खराब हो जाता है या फिर चूहे खा जाते हैं।

अतिरेक क्षेत्रों में खेतों के समीप भण्डारण सुविधाएँ विकसित करने की अत्यंत आवश्यकता है। सरकार ने इस बारे में एक योजना बनाई जिससे उपज का विपणन व्यवस्थित करने में सहायता मिलेगी। इस समस्या का एक और आयाम है। कमी वाले राज्यों को यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता है कि उनको सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लिए सारा साल अनाज मिलता रहेगा। ऐसा राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा प्रणाली के अभिन्न अंग के रूप में कमी वाले राज्यों में भण्डारण सुविधाएँ मजबूत करके किया जा सकता है।

सहकारिता क्षेत्र में भी भण्डारण सुविधाओं का विस्तार होना चाहिए। सहकारिता भण्डारण कार्यक्रम एक समन्वित कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य आवश्यक कृषि वस्तुओं का वितरण, विपणन और उपभोक्ताओं को उपलब्ध कराने की सुविधाएँ देना है।

कुछ अन्य बातें जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है, ये हैं : (1) गोदामों के स्थान; (2) वर्तमान सुविधाओं के बेहतर उपयोग; (3) कृषि उत्पादन क्षेत्रीय तौर पर केन्द्रित होने के कारण भण्डारण की राष्ट्रीय योजना तथा (4) भण्डारण के दौरान नुकसान को कम करना।

### बोध प्रश्न 1

निम्नलिखित के उत्तर पचास शब्दों में दीजिए।

1) आधुनिक कृषि में सांस्थानिक ऋण की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) कृषि की प्रगति में कुशल विपणन की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 15.4 कृषि मूल्य नीति

कृषि मूल्यों में वर्ष के दौरान बहुत अधिक उतार-चढ़ाव आने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके तीन कारण हैं:

क) कृषि वस्तुओं की नीची कीमत माँग लोच।

ख) कृषि उत्पादन का जैविक स्वरूप।

ग) कृषि उद्योग का मौसमी स्वरूप। उत्पादन वर्ष के कुछ भागों में ही होता है।

अधिकतर औद्योगिक वस्तुओं की तुलना में कृषि वस्तुओं की कीमत माँग का लोच न केवल कम होता है बल्कि अधिकतर एक से कम रहता है। माँग बेलोच इसलिए होती है क्योंकि अधिकतर कृषि जीवन के लिए आवश्यक होते हैं। विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों में यह कम बेलोच होती है। अतः जिस वर्ष सूखा पड़ने के कारण उत्पादन कम रहता है, कीमत में आनुपातिक वृद्धि उत्पादन में आनुपातिक गिरावट की तुलना में अधिक रहती है। इसके विपरीत जब फसल अच्छी होती है, कीमत में आनुपातिक गिरावट उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि की अपेक्षा अधिक होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आपूर्ति में एक प्रतिशत वृद्धि कीमत में एक प्रतिशत से अधिक गिरावट लाती है।

अपनी जैविक प्रकृति के कारण कृषि उत्पादन में इच्छानुसार वृद्धि लाने में तो रुकावट होती ही है, इसमें स्थिति के अनुसार उत्पादन में तेजी से कमी या बढ़ोतरी नहीं की जा सकती है। उत्पादन क्षमता में वृद्धि और परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि के बीच समय लगता है जिससे माँग और आपूर्ति के बीच समझना, विशेषतया, अल्पवधि में, कठिन होता है।

ऐसा विशेषतया उन विकासशील देशों में सही पाया जाता है जहाँ आपूर्ति की कीमत लोच कम रहती है। माँग और आपूर्ति के कीमत बेलोच होने से विकासशील देशों कृषि मूल्यों में बहुत अधिक चढ़ाव होते हैं और सभी यह समझते हैं कि उनके उत्पाद की माँग पूर्णतया बेलोच है, लेकिन वे नहीं जानते कृषि उत्पाद की समग्र माँग (यानि सारे देश की माँग) काफी अधिक लोचदार होती है। कृषि उत्पादन में मौसम के कारण एक वर्ष से दूसरे वर्ष परिवर्तन आते रहते हैं। दूसरे, अधिकतर कृषि वस्तुओं का उत्पादन मौसमी होता है। उत्पादन तो किसी विशेष मौसम में होता है और बाज़ार में छा जाता है फिर उसकी कीमतें गिरने लगती हैं और जब किसान अपनी अधिकतर उपज बेच चुके होते हैं, फिर बढ़ने लगती हैं।

### 15.4.1 कृषि मूल्यों के कार्य

कृषि मूल्यों के तीन महत्वपूर्ण कार्य हैं : (क) साधनों का आबंटन करना; (ख) आयों का वितरण करना तथा (ग) पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन देना।

कृषि मूल्य उत्पादकों को उत्पादन स्तर के बारे में और उपभोक्ताओं को उपभोक्ता स्तर के बारे में संकेत देते हैं। कृषि वस्तुओं की कीमतों में तुलनात्मक परिवर्तन इनके बीच साधनों के बँटवारे और उपभोक्ताओं द्वारा इनके उपभोग को प्रभावित करते हैं। उदाहरणतः यदि एक कृषि वस्तु की कीमत, अन्य वस्तुओं की अपेक्षा, बढ़ जाती है तो उत्पादक भूमि और अन्य आगतों इसके उत्पादन में अधिक लगाएँगे। उपभोक्ता इसके स्थान पर सस्ते कृषि उत्पादों को उपभोग करने का प्रयत्न करेंगे।

कृषि मूल्य एक और किसानों की आय निर्धारित करते हैं, और दूसरी ओर गैर-कृषि लोगों के जीवन स्तर पर प्रभाव डालते हैं। कृषि मूल्यों में परिवर्तन अर्थव्यवस्था के कृषि और गैर-कृषि क्षेत्रों के बीच आय का हस्तांतरण लाते हैं।

### 15.4.2 भारत में कृषि मूल्य नीति का विकास

भारत में कृषि नीति का विकास दो चरणों में हुआ। इसका जन्म युद्ध के दौरान हुआ जब खाद्यान्नों की बेहद कमी के कारण कीमतों के बढ़ने से समस्याएँ पैदा हो गई थीं। ये नीतियाँ उपभोक्ता जनक थी जो स्फीति को नियंत्रण करने और जीवन निर्वाह व्यय को कम रखने के लिए बनाई गई थी। इन नीतियों में ये बातें शामिल थीं : (i) स्थानीय तौर पर उपलब्ध अतिरिक्त खाद्यान्न का आयात; (ii) खाद्यान्न का आयात; तथा (iii) पूर्ण या आंशिक राशनिंग वाले क्षेत्रों में उपलब्ध आपूर्ति का समान वितरण करना। ये नीतियाँ जून 1952 तक रहीं जिसके बाद इनमें ढील दी गई और मुक्त व्यापार शुरू हुआ। ये परिवर्तन इसलिए हुआ क्योंकि यह महसूस होने लगा था कि इससे खाद्यान्न संकट बहुत बढ़ सकता था।

क्योंकि एक तरफ तो सरकार को बहुत अधिक खाद्यान्न की आवश्यकता थी जबकि सरकारी खरीद में कठिनाइयाँ आ रही थीं। वास्तविक हल आयात या सरकारी खरीद या नियंत्रित वितरण में न होकर कम से कम समय में अधिक से अधिक उत्पादन करने में था। यह बताना आवश्यक है कि 1951-52 से 1964-65 के बीच में आयात से और बाज़ार कीमत से कम कीमत पर वितरण करने से कमी दिनों में कीमतों में स्थिरता लाने में मदद मिली। लेकिन इससे उत्पादन प्रोत्साहन को धक्का लगा और उत्पादन में गतिहीनता आ गई। इसलिए तीसरी योजना में उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों दोनों के हितों को ध्यान में रखकर मूल्य नीति बनाई गई।

इस उद्देश्य से कि किसानों को अपनी उपज की उचित कीमत मिले ताकि वे उन्नत प्रौद्योगिकी अपनाने और निवेश बढ़ाने के प्रति उत्साहित हों, 1965 में कृषि मूल्य आयोग (Agricultural Prices Commission) की स्थापना हुई। इसका कार्य कृषि मूल्य नीति के बारे में सरकार को सलाह देना था। 1965 की नीति में इस बात पर जोर था कि नीति संतुलित और समन्वित हो तथा उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों के हितों का ध्यान रखे। आयोग को इन बातों का ध्यान रखना था :

- क) उत्पादन अधिकतम करने हेतु उत्पादक को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता;
- ख) भूमि व अन्य उत्पादन साधनों का सही उपयोग सुनिश्चित करने की आवश्यकता; तथा
- ग) शेष अर्थव्यवस्था पर संभावित प्रभाव, विशेषतया निर्वाह व्यय, मजदूरी के स्तर, औद्योगिक लागत पर आदि।

1965 में सबसे ऊँची प्राथमिकता उत्पादन को अधिकतम करने को दी गई क्योंकि देश में खाद्यान्न आने लगा था तो आयोग के मापदण्डों में संशोधन किया गया। अब आयोग को ये कुछ करने के लिए कहा गया :

- 1) राष्ट्रीय आवश्यकताओं को ध्यान में रख उत्पादकों को उन्नत प्रौद्योगिकी अपनाने और उत्पादन ढाँचों को विकसित करने के लिए प्रोत्साहन देने की आवश्यकता;
- 2) भूमि, जल व अन्य उत्पादन साधनों का सही उपयोग सुनिश्चित करने की आवश्यकता;
- 3) मूल्य नीति के शेष अर्थव्यवस्था पर प्रभाव, विशेषतया निर्वाह व्यय, मजदूरी स्तर, औद्योगिक लागत ढाँचा आदि।
- 4) कृषि क्षेत्र और गैर-कृषि क्षेत्र के बीच व्यापार शर्तें (terms of trade)।

### 15.4.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली

विकसित हो या विकासशील दुनिया के सभी देश किसी न किसी देश में जनसंख्या के संवेदनशील भाग को खाद्यान्न व अन्य आवश्यक वस्तुएँ वित्तीय सहायता प्राप्त दरों (Subsidised Prices) पर उपलब्ध करवाते हैं। भारत में 1939 से जब इसकी शुरुआत हुई थी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली खाद्यान्न प्रबंध का एक महत्वपूर्ण साधन रही है।

भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तीन मुख्य उद्देश्य हैं :

- 1) संवेदनशील उपभोक्ताओं को खाद्यान्न की एक न्यूनतम मात्रा उपलब्ध करवाना। ऐसे उपभोक्ताओं की आय लोच अधिक और कीमत लोच कम होती है। खाद्य उत्पादन में उतार-चढ़ाव के होते इससे प्रति व्यक्ति भोजन उपलब्धता बनाए रखने और उपभोग को स्थिर रखने में सहायता मिलती है।
- 2) कीमतों में स्थिरता लाना। ऐसा सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से बाजार से कम कीमतों पर खाद्यान्न की आपूर्ति करके किया जा रहा है। इससे स्फीति को रोकने में भी सहायता मिलती है।
- 3) गरीबी विरोधी उपाय के रूप में कम आय वर्ग में उपभोक्ताओं को आय का हस्तांतरण करना ताकि उनके पौषणिक स्तर को बढ़ाया जा सके।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक प्रबंध का उदाहरण या फिर एक गरीबी विरोधी उपाय कहा जा सकता है। आर्थिक प्रबंध के उपकरण के रूप में नीति बनाने वालों की चिंता कमी, सूखा, राशनिंग, आयात, उत्पादन में उतार-चढ़ाव के रहते उपलब्धता सुनिश्चित करना, खाद्य स्फीति को रोकना और मजदूरी लागत के बारे में थी।

गरीबी विरोधी उपाय के रूप में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उद्देश्य कम आय वर्ग के लोगों की ओर आय का हस्तांतरण करना है। इससे इस कार्यक्रम का लक्ष्य गरीब लोग और गरीब क्षेत्र है। इसका उद्देश्य समाज के संवेदनशील वर्गों के पौषणिक स्तर को बढ़ाना और परिवार स्तर पर भोजन सुरक्षा सुनिश्चित करना है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली तीन चरणों से गुजरी है। पहला चरण हरित क्रांति प्रारम्भ होने तक था। इसमें प्रणाली ने शहरी उपभोक्ताओं को उपयुक्त आपूर्ति सुनिश्चित की और राशनिंग व आयात के माध्यम से खाद्य व्यवस्था की। दूसरा चरण 1970 के दशक तक था। इस चरण में आपूर्ति की स्थिति ठीक हो गई थी और सार्वजनिक वितरण प्रणाली सरकारी खरीद कार्यक्रम की उपभोक्ता प्रतिरूप बन गई थी। तीसरे चरण, यानि



1980 के दशक में सरकार ने मजदूरी रोजगार कार्यक्रम प्रारम्भ किया। ऐसा भोजन की ओर आर्थिक पहुँच सुनिश्चित करने के लिए किया। इसकी मुख्य विशेषता आय हस्तांतरण थी विशेषता पिछड़े इलाकों में। सार्वजनिक वितरण प्रणाली का सबसे नया कार्यक्रम है गरीबी रेखा के नीचे वाले गरीब परिवारों को चावल और गेहूँ सामान्य राशन कीमत से आधे दाम पर उपलब्ध करवाना। इस कार्यक्रम के अधीन गरीबों के लिए राज्य सरकारों को गेहूँ 2.50 रुपये और चावल 3.50 रुपये प्रति किलोग्राम पर करवाया जाएगा। राशन की दुकानों पर इसकी कीमत केवल 50 पैसे प्रति किलोग्राम ही अधिक हो सकती है। हाल के वर्षों ये कार्यक्रम गरीबी-विरोधी कार्यक्रम का रूप ले रहा है।

#### 15.4.4 सार्वजनिक वितरण में प्रवृत्तियाँ

1965-67 में उचित दर की दुकानों द्वारा वितरित चावल और गेहूँ को औसत मात्रा 90 लाख टन थी जोकि 1988-90 में बढ़कर 158 लाख टन हो गई। यह देश में उपलब्ध इन दोनों की मात्रा का क्रमशः 18.6 प्रतिशत और 15 प्रतिशत थी। 1965-67 में गेहूँ का सार्वजनिक वितरण कुल उपलब्धता का 42.5 प्रतिशत था जबकि चावल का 11.2 प्रतिशत था। 1988-90 में प्रतिशत क्रमशः 17.3 व 14.3 प्रतिशत था। इस प्रकार 1980 के बाद से सार्वजनिक वितरण में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। यह वृद्धि मुख्यतः चावल के कारण थी जिसकी प्रौद्योगिकी और उत्पादन में बड़ा परिवर्तन आया था। कुल वितरण में गेहूँ का प्रतिशत जोकि 1965-67 में 66 प्रतिशत था, 1980-90 में घटकर 45 प्रतिशत रह गया था।

राज्य स्तर पर वितरण में केरल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल और दिल्ली को काफी मात्रा में खाद्यान्न मिले। इनका 1990 में चावल और गेहूँ दोनों के वितरण में भाग 48 प्रतिशत था जबकि 1987-88 में इनकी कुल जनसंख्या का केवल 26 प्रतिशत भाग ही गरीबी रेखा के नीचे था। दूसरी ओर बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, ओड़ीशा व उत्तर प्रदेश का भाग कम था। इन सबका कुल मिलाकर गेहूँ और चावल में इनका भाग 16 प्रतिशत था जबकि गरीबी रेखा से नीचे जनसंख्या 52 प्रतिशत थी।

अनाजों (चावल और गेहूँ) का प्रति व्यक्ति वितरण 1973-74 में 17.22 किलोग्राम (कलेण्डर वर्ष 1973 व 1974 का औसत) से बढ़कर 1988-89 में 21.74 कि. हो गया। इसी अवधि में गेहूँ का वितरण 11.16 कि. से घटकर 10.14 कि. हुआ जबकि चावल का वितरण 6.06 कि. से बढ़कर 11.6 कि. हो गया लेकिन राज्य स्तर पर इसमें विभिन्नताएँ थीं।

कुछ राज्यों में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से होने वाला प्रति व्यक्ति उपभोग ऊँचा था जो यह दिखाता है कि इन राज्यों की केन्द्रों पर निर्भरता दर काफी अधिक थी। हमने 1973-74 व 1988-89 में इस निर्भरता दर को मापा है। यह दर प्रति व्यक्ति वितरण का प्रति व्यक्ति उपभोग के प्रतिशत के रूप में है। इसमें उपभोग का आधा भाग सार्वजनिक वितरण के रूप में था। इन दो अवधियों के बीच कुछ राज्यों के भागों (जिसमें तमिलनाडु प्रमुख हैं) में तो तेजी से वृद्धि हुई जबकि अन्यो में कमी आई (सबसे अधिक कमी महाराष्ट्र में थी)।

#### बोध प्रश्न 2

1) कृषि विकास में भण्डारण तथा संग्रह की क्या भूमिका होती है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) किसी अर्थव्यवस्था में कृषि मूल्यों के क्या कार्य हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) गरीबों को खाद्य उपलब्ध कराने में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की क्या भूमिका रही है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली कितनी सफल रही है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 15.5 सारांश

यह इकाई इस खंड की तृतीय व अंतिम इकाई है, जो कृषि क्षेत्र से संबंधित है। इस इकाई के अंतर्गत कृषि-क्षेत्र में गैर-खेती सेवाओं की चर्चा की गई है। यह संस्थागत सेवार् हैं जैसे ऋण तथा विपणन। साथ ही इस इकाई में सरकार की कृषि से संबंधित नीतियों की भी चर्चा की गई है। ये हैं : कृषि मूल्य नीति तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली। इनके तहत आवश्यक अनाज गरीबों को कम दाम में उपलब्ध होते हैं।

इस इकाई में कृषि के लिए ऋण के महत्त्व की चर्चा की गई है तथा ऋण के संस्थागत तथा गैर-संस्थागत स्रोत बताए गए हैं। इसके उपरान्त इकाई में कृषि सामग्री के विपण की व्याख्या की गई। इसके पश्चात् इकाई में कृषि मूल्य नीति की चर्चा की गई और यह समझाया गया कि कैसे सरकार इस नीति का उपयोग करती है किसानों को अधिक से अधिक विपणीय आधिक्य की पूर्ति के प्रणोदन के लिए। इकाई के अंत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की विस्तार से विवेचना की गई है।

## 15.6 शब्दावली

कृषि मूल्य नीति	:	एक नीति जिसके माध्यम से सरकार किसानों को न्यूनतम या अधिप्राप्ति मूल्यों का आशवासन देती है ताकि वे उत्पादन में वृद्धि करें।
निर्गम मूल्य	:	वह मूल्य जिसमें राशन की दुकानों को आदेश है कि वे सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत खाद्यान्न बेचें।
गैर-संस्थागत ऋण	:	वह ऋण जो कि महाजनों, निधियों इत्यादि द्वारा किसानों को प्रदान किया जाता है।

## 15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Government of India 1976, *National Commission on Agriculture*, Ministry of Agriculture and Irrigation.

Kabra K.N. and Itteyrah A.C. 1992, *The Distribution System in India*, Eastern Book, New Delhi.

Tyagi D.S. and Kahlon A.S. 1983, *Agriculture Price Policy in India*.

---

## 15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

---

### बोध प्रश्न 1

- 1) उत्तर के लिए उपभाग 15.2.3 देखें।
- 2) उत्तर के लिए उपभाग 15.3.1 देखें।

### बोध प्रश्न 2

- 1) उत्तर के लिए उपभाग 15.3.2 देखें।
- 2) उत्तर के लिए उपभाग 15.4.1 देखें।
- 3) उत्तर के लिए उपभाग 15.4.3 देखें।